

उपसंहार

उपसंहार

आदिवासी साहित्य का चेहरा हमारे तथाकथित शिष्ट साहित्य से बहुत अलग है। इसका अपना ही समाजशास्त्र है। आदिवासी विमर्श, स्त्री विमर्श और दलित विमर्श लगभग साथ ही हिंदी साहित्य के विमर्श के केंद्र में उपस्थित होते हैं, इसलिये ये तीनों अपनी-अपनी विचारधाराएँ और चिंतन से एक दूसरे को प्रभावित करते हुये अपनी अस्मिता का प्रश्न लेकर उपस्थित होते हैं। इस बात का प्रमाण है हिंदी का उपन्यास साहित्य, जो इन कोशिशों में काफी समृद्ध है।

आदिवासी जीवन पर केंद्रित उपन्यासों की चर्चा करते हुये हम ये पाते हैं कि 'कब तक पुकारूँ' से लेकर 'बाजत अनहद ढोल' तक उपन्यासों की एक बेहद विस्तृत लम्बी परंपरा है; इसलिए इस लम्बी परंपरा को दो भागों में विभाजित कर अध्ययन और विश्लेषण करने की चेष्टा इस शोध-कार्य में की गई है।

आदिवासी जीवन पर केंद्रित हिंदी उपन्यास अपनी विकास-यात्रा के क्रम में आदिवासी जीवन को रेखांकित करते हुये सार्थक साहित्य के रूप में उभरकर हमारे सम्मुख प्रस्तुत होता है। 'सूरज किरण की छाँव' से गायब होता देश तक देखें तो तमाम उपन्यास हैं, जिनमें आदिवासी समाज की संस्कृति और उनके लोक-जीवन की खूबियों को प्रत्येक स्तर पर समेटने की चेष्टा हुई है। आदिवासी समाज, जिसे हम चौथी दुनिया भी कहते हैं, उसका अपना ही एक अलिखित वाङ्मय है। उसका इतिहास और भूगोल वैश्विक होती दुनिया में प्रायः एक जैसा ही है। अतः भले ही हिंदी उपन्यास की विकास यात्रा ने काफी दूरी तय की है, उसके बरअक्स आदिवासी हिंदी उपन्यास का इतिहास बहुत पुराना नहीं है। इसे गंभीरता से तो काफी बाद में लिया जाने लगा। यह हिंदी उपन्यास का भविष्य गढ़ता है।

भारत की कुल आबादी का मात्र 8% ही आदिवासी हैं। आज के उपन्यास आदिवासी जीवन-चर्या को ईमानदारी से प्रस्तुत करने की चेष्टा कर रहे हैं। वे आदिवासी जीवन का जीवंत दस्तावेज पेश कर रहे हैं। आज के रचनाकार आदिवासी समाज के धार्मिक, आर्थिक, सामाजिक शोषण के कुचक्रों को समकालीन हिन्दी उपन्यासों में मात्र उठा ही नहीं रहे बल्कि वे उनके अस्तित्व के प्रश्न को भी जोरदार आवाज दे रहे हैं। कहना न होगा कि इससे उनकी त्रासदियों को मुखरता से प्रस्तुत करने का वे उपक्रम कर रहे हैं। इतना ही नहीं कुछ गैर-आदिवासी समाज के लोग जब आदिवासी समाज के रीति-रिवाजों, धार्मिक मान्यताओं और सामाजिक जीवन में अवांछित हस्तक्षेप करते हैं तो उनके प्रति इन उपन्यासों का रवैया भी आलोचनात्मक बना रहता है। फिर चाहे वह 'अल्मा कबूतरी' हो, चाहे वह 'पठार पर कोहरा या कोई अन्य उपन्यास, ये सभी उपन्यास इतना सजीव चित्रण प्रस्तुत करते हैं कि तथाकथित सभ्य समाज की सांस्कृतिक परम्पराएँ तक स्वयं को बौना महसूस करती है। दूसरी ओर जहाँ तक प्रेम की बात है वह योगेंद्रनाथ सिन्हा के 'वन के मन में' उपन्यास में रेखांकित होता हुआ नजर आता है। कुछ ऐसा ही हम 'छैला संदु' उपन्यास में भी हम देख पाते हैं।

आदिवासी जीवन पर केंद्रित कुछ उपन्यास इतिहास में हुई राजनीतिक घटनाओं की बानगी भी प्रस्तुत करते हैं, जिनमें विनोद कुमार के 'समर शेष है' उपन्यास का नाम लिया जा सकता है। यह उपन्यास झारखण्ड राज्य में आदिवासी समाज पर हो रहे महाजनी शोषण के विरुद्ध शिबू के द्वारा चलाए गए जन आंदोलन को केंद्र में रखकर लिखा गया है, जो क्रांतिकारी स्वर को बुलंद करता है।

आदिवासी जीवन से संबंधित हिन्दी उपन्यासों की विकास यात्रा में हम यह पाते हैं कि आदिवासी समाज का जो स्वर हम समकालीन में हिन्दी उपन्यासों में दिखाई देता है, वह आदिवासी जीवन केंद्रित शुरूआती उपन्यासों में इतना मुखर नहीं है। समकालीन हिन्दी उपन्यास में आदिवासी

अस्मिता का संदर्भ बहुत ही वजन के साथ मौजूद है। इन उपन्यासों में न सिर्फ समाज की मुख्यधारा से बेदखल आदिवासियों के जीवन और उनकी संस्कृति पर हो रहे हमले के सवाल मौजूद हैं; बल्कि उनके अतीत, इतिहास और प्रतिरोध के पक्ष को भी भाषा की संरचनात्मक अभिव्यक्तिपरक जमीन दी गई है।

विकास और रोजगार देने के नाम पर फैक्टरी खोलना, आदिवासियों को उनके जल- जंगल- जमीन से वंचित कर देता है। जब वे अपने संसाधनों और अपनी अस्मिता की रक्षा के लिए संघर्ष करते हैं, तो उन्हें जेल में ठूस दिया जाता है। उदाहरण के लिए संजीव के 'धार' उपन्यास की मैना की नियति को देख सकते हैं। कहना न होगा कि क्यों आदिवासी साहित्य को जरूरत का साहित्य भी कहा जा सकता है। इसमें अस्मिता, अधिकार और आत्मसम्मान का संघर्ष विद्यमान है। समकालीन हिंदी उपन्यासकार आदिवासियों की जरूरतों को पहचानता है और उनके संघर्ष की लड़ाई में शामिल होकर उन्हें जागरूक भी बनाता है। इसी जागरूकता तथा सामूहिकता से कामयाबी की रौशनी निकलकर आती है और भविष्य के प्रति एक उम्मीद जगती है। उदाहरणार्थ, आदिवासी अस्मिता के अंग जल, जंगल, जमीन के सवाल को 'आमचों बस्तर' उपन्यास में बेहद रोचक ढंग से प्रस्तुत किया गया है, साथ ही हलबा जनजाति की लोककथा भी यहाँ उसी शिद्दत से पेश किया गया है।

रणेंद्र के 'ग्लोबल गांव के देवता' उपन्यास में अंतरराष्ट्रीय कम्पनियों/मल्टीनेशनल के अत्याचार व शोषण को दिखाया गया है। इन कम्पनियों के त्याज्य पदार्थों से उपजी घातक बीमारियों को आदिवासी अंधविश्वास के कारण कर मूड़ीकटवा से सिर कटवा लेता है। असुर समाज की सांस्कृतिक एवं भौतिक सम्पदा को तातकतवर लोगों के द्वारा लूटे जाने पर एक पूरा का पूरा देश ही गायब होता जा रहा है। गौरतलब है कि आदिवासी समाज में भी एक पूंजीपति या संसाधनों से संपन्न

वर्ग है, जो अन्य आदिवासी समाज के अधिकारों का समझौता करता है, उपन्यासकार उन्हें धन लोलुप आदिवासी मानते हैं। यह सब घटनाएँ सिर्फ पूर्वी आदिवासी जनजातियों के साथ ही नहीं पश्चिम की आदिवासी जनजातियों के साथ भी घटित हुई हैं। मसलन, राजस्थान के आदिवासी समाज के विद्रोह पर केंद्रित उपन्यास 'धूणी तपे तीर' उपन्यास जो हरिराम मीणा ने लिखा है, यह उपन्यास अपने स्वरूप में उपनिवेशी दौर के सामंती एवं अंग्रेजी शाषकों की मिली-भगत का ऐतिहासिक दस्तावेज पेश तो करता ही है, साथ ही साथ औपनिवेशिककाल से पूर्व की आदिवासी स्वतंत्रता को भी रेखांकित करता है। इसके अलावा यह उपन्यास जलियांवाला बाग हत्याकांड जैसे हत्याकांड का भी एक प्रसंग रचता है, जिसमें आदिवासियों को ढेर होते दिखाया गया है। यह दुखद है कि इतनी बड़ी कुर्बानी देने के बावजूद इतिहास से आदिवासी समाज का यह त्याग गायब कर दिया गया। इससे पता चलता है कि जो इतिहास आजादी का हमसे रूबरू कराया गया वह कहीं-न-कहीं या तो पूर्वाग्रह से ग्रस्त है या अधूरा है। उसका 'सबाल्टर्न' पक्ष अब भी अपने आलोकित होने की राह देख रहा है। कुल मिलाकर यह कहना उचित प्रतीत होता है कि आदिवासियों की अस्मिता जीवन को टुच्चे तौर पर सुखी-समृद्ध बनाने में नहीं है, बल्कि उनका तो ये मानना है कि जरूरत जितनी ज्यादा होगी, उतने ज्यादा भौतिक संसाधनों से हम घिरे हुये रहेंगे और उतना ही हम अपने पर्यावरण से विश्वासघात करेंगे।

आदिवासी समाज को समकालीन हिंदी उपन्यासों में बड़ी ही संजीदगी से समझने की कोशिश की गई है। ये उपन्यास न केवल आदिवासी समाज के सामाजिक, सांस्कृतिक पक्ष को ही मुद्दों के रूप में उठाते हैं, बल्कि उसके आर्थिक शोषण को भी अपना विषय बनाते हैं। इसके साथ ही उनकी मान्यताओं पर विमर्श के लिए नई जमीन भी तैयार करते हैं। इस शोध-प्रबंध में समकालीन हिंदी उपन्यास में पाश्चात्य सभ्यता एवं पूंजीवादी सामाजिक व्यवस्था के बरअक्स आदिवासी जीवन

की सामाजिक मान्यताओं को तथा तथा सभ्यता को रेखांकित करने का प्रयास हुआ है। इसलिए एक बात तो तय है कि आदिवासी समाज की त्रासदी को दुनिया के सामने समकालीन हिंदी उपन्यास प्रस्तुत ही नहीं वरन् बहुत बारीक से उन कारणों का विवेचन भी करते हैं, जो इस त्रासदी का कारक हैं। इन उपन्यासों में आदिवासियों की कुटुम्ब व्यवस्था, आध्यात्मिक नीति, रीति-रिवाज, विवाह-पद्धति, रहन-सहन, अंधविश्वास एवं भाषा-बोली आदि का सम्यक चित्रांकन भी है। मसलन, घोटुल की परंपरा जहां दी जाने वाली यौन-शिक्षा, कहानी, नाच-गाने के माध्यम से लड़के-लड़कियों में घर-गृहस्थी एवं जीवन की सम्पूर्ण अन्तःशक्तियों का विकास किया जाता है।

अंततः हम यह कह सकते हैं कि समकालीन हिंदी उपन्यास समाज का ऐतिहासिक या भौगोलिक आख्यान भर नहीं है, बल्कि आदिवासी अतीत और वर्तमान का जीवंत दस्तावेज़ भी है। वह उनके सहज जीवन जीने तथा प्रकृति प्रेम को आधुनिकता के नाम पर पिछड़ेपन का नाम देने की मुखालफत करता है। भले ही शिष्ट समाज ने विकास की अपनी अवधारणा में उन्हें जंगली घोषित कर दिया है, परंतु जंगल अपनी प्रकृति में आदिम होता है, धूर्त बिलकुल नहीं। वह किसी का हक छीनता नहीं। संतुलित तरीके अपने हिस्से को ग्रहण करता है। कम से कम इतना तो कहा ही जा सकता है कि आदिवासी समाज प्रकृति से अपने सामंजस्य का सूत्र गढ़ता है। वह उसके साथ एकरस हो जाता है। अपना अस्तित्व वह प्रकृति से जोड़कर सार्थक होते देखता है।

भूमंडलीकरण के बाद आदिवासियों का आर्थिक जीवन काफी प्रभावित हुआ है और इसका कारण भी सीधा-सा है कि उनके जीवन का आर्थिक आधार बहुत हद तक जंगलों पर ही टिका हुआ है। इसलिये इनके यहाँ आर्थिक व्यवस्था सामाजिक व्यवस्था का ही विस्तार है। इस व्यवस्था के विस्तार में शिक्षा, जनसंचार, तकनीक सरकार तथा संविधान आदि की सक्रिय भूमिका है, जिसका जिक्र समकालीन हिंदी उपन्यासों में मिलता है। इसके साथ-साथ इन उपन्यासों में हम

खेती, खदानों के जीवन, कर्ज, नौकरी, पैरोहित्य, वनोपज इत्यादि क्रिया व्यापारों को भी इनके आर्थिक जीवन में हम देख पाते हैं। ये वे चीजें हैं, जिनसे उनका भरण-पोषण होता है। कई बार अर्थाभाव में आदिवासी स्त्रियों को वेश्यावृत्ति जैसे कुकर्म भी करने पड़ते हैं। मसलन, संजीव के उपन्यास 'धार' एवं विनोद कुमार के उपन्यास 'समर शेष है' में इस पहलू पर प्रकाश डाला गया है।

दूसरी ओर आदिवासी समाज की धार्मिक मान्यताओं के स्वरूप का चित्रण भी समकालीन हिन्दी उपन्यास में बखूबी हुआ है। धर्मनिरपेक्ष लोकतंत्र भारत के संविधान की खूबसूरती है। लेकिन प्रलोभन देकर धर्म परिवर्तन करना धार्मिक कठमुल्लेपन की निशानी है। प्रयः गरीबों को लालच देकर उनकी 'घर वापसी' करवाई जाती है, जो कहीं न कहीं आदिवासी अस्मिता को चोटिल कर उन्हें विस्थापन के लिए मजबूर ही करता है। ये चीजे उनकी पहचान को नष्ट करने का जरिया हैं। आदिवासी समाज प्रकृति पूजा में ही विश्वास करता है तथा वह उपासना एवं आराधना भी पहाड़ों, नदियों, वृक्षों एवं सूर्य की ही करते हैं। ये चीजे ही इनके लिए धर्म हैं। मूलतः आदिवासी सरना धर्म को मानते हैं, जो प्रकृति एवं उनके पूर्वजों से मिलकर बनता है। इसलिए ही रणेंद्र के उपन्यास 'ग्लोबल गांव के देवता' में आदिवासियों को अपने पितर-पूर्वज को याद करते दिखया गया है। इन सब बातों के बीच कभी-कभी दैवीय प्रकोप से बचने के लिए आदिवासी समाजों में जादू-टोना जैसी चीजें भी देखने को मिलती हैं, जो सिर्फ अशिक्षा और अंधविश्वास का परिणाम न होकर, ताकतवरों के द्वारा भूमि-हड़प नीति को भी सामने लाता है। मसलन 'धार' उपन्यास का वह ओझा जो पैसा न देने पर गांव से निकलवाने की बात करता है। इसके अलावा इस मामले में हम बलि-प्रथा को भी खूब फलता-फूलता देख सकते हैं। इसका उदाहरण हम रणेंद्र के 'ग्लोबल गांव के देवता' में हम देख पाते हैं, जहाँ यह आदिवासियों द्वारा यह माना जाता है कि धान को आदमी के खून से सानकर बिछड़ा

डालने से फसल बहुत अच्छी होती है। इसके अलावा मुड़ीकटवा प्रसंग भी इस संदर्भ में उल्लेख्य है। कुछ इसी तरह आमच्यो बस्तर में भी बलि प्रथा का उल्लेख मिलता है।

विवाह से लेकर सरहुल उत्सव तक लोकगीत का गायन होता है। यहां तक कि छोटे-छोटे पर्व जैसे धान की रोपाई, कटाई, अथवा खेत में काम करने के दौरान भी। इसके अलावा इनके यहाँ एक रिवाज और भी है, जिसे गोदना कहते हैं। आदिवासी इसे अपना आभूषण स्वीकार करते हैं। ऐसा भी प्रायः माना जाता है कि गोदना से शरीर की कमजोरी दूरी होती है और यह गोदना से ही नारी की परीक्षा होती है। दरअसल शुरू से अंत तक आदिवासी समाज की जीवन शैली बिल्कुल भिन्न नजर आती है। यह तथाकथित सभ्य समाज का वाम पक्ष है। इस समाज में विविध प्रजातियों के बीच सामाजिक-सांस्कृतिक स्तर बहुत सारी समानताएं होने के बावजूद भी कुछ भिन्नताएँ भी देखने को मिलती हैं। यथा, इनके यहाँ कहीं मातृ-सत्तात्मक समाज हैं, तो कहीं पितृ-सत्तात्मक समाज हैं।

प्रकृति से अनुकूलित होते-होते कभी - कभी ताकतवरों के प्रभाव के कारण आदिवासियों को धर्म-परिवर्तन करने की नौबत भी तक आ जाती है। बहुत बार वे इस स्थिति से बचने के लिए विस्थापन का रास्ता चुनते हैं। इतने संघर्षों के बावजूद आदिवासी समाज अपने संस्कारों एवं संस्कृतियों की पहचान बनाए रखने के लिए कटिबद्ध है। परंतु पूंजीवादी लोकतंत्र की इस व्यवस्था में आदिवासियों का जीवन जीना दूभर हो गया है।

आज आदिवासियों को जब उनके जल, जंगल, जमीन से वंचित किया जा रहा है तो उनमें एक असंतोष का भाव पैदा हो रहा है, जो कई बार आंदोलन या विद्रोह में परिणित हो जाता है। जब ये लोग विद्रोह या आंदोलन करते हैं, तो उन्हें नक्सली कहकर सरकार उन पर गोलियां तक चलवाती है। ऐसे में आदिवासी विद्रोह के नायकों की महती भूमिका को नजर-अंदाज करना उचित नहीं है। अतः प्रस्तुत शोध कार्य में यह अपनी कोशिश रही है कि उन अधिनायकों के योगदान के विश्लेषण

से आदिवासी विद्रोह/ आंदोलन की लंबी परंपरा को समझा जा सके। इनमें से बहुत-से नायक तो आदिवासी समाजों से उठकर ही आते हैं, तो कुछ गैर-आदिवासी भी हैं जो इनके अधिकारों के लिए लड़ें हैं। आज मुख्यधारा की राजनीति में आदिवासी प्रतिनिधियों की संख्या में काफी इजाफा हुआ है, लेकिन स्वार्थ सिद्धि वाली राजनीति के कारण आदिवासी अधिकारों के लिए ना तो वे रुचि लेते हैं और ना ही संसद या विधानसभाओं में उनकी वकालत करते हुए दिखाई देते हैं। समकालीन राजनीति ने उन्हें हर स्तर पर मायूस ही किया है।

आदिवासी जीवन पर केंद्रित समकालीन हिंदी उपन्यासों में जो एक बात स्पष्ट है, वह यह है कि आदिवासियों की आबादी का बड़ा हिस्सा शोषित एवं प्रताड़ित है। ये उपन्यास आदिवासी समाज के पर्यावरण से एकाकार होने को तो दिखाते ही हैं, हमारे देश की सामासिक एवं समावेशी संस्कृति का भी मुहावरा गढ़ते हैं, जो आदिवासी समाज का अपना वैशिष्ट्य है। इन उपन्यासों ने आदिवासी प्रतिरोध के स्वर और उस स्वर की भवितव्यता का समीकरण सही तरह से चिह्नित किया है। समकालीन हिंदी उपन्यास का आदिवासी पक्ष आदिवासी जीवन तथा संस्कृति के संरक्षण के बहाने हमारी प्रकृति-पर्यावरण और हमारे मनुष्य होने के संवेदनात्मक ज्ञान की सजग पहरेदारी करता है। इस निष्ठावान चेष्टा से भविष्य के ऐसे भारत की कल्पना करना अनुचित न होगा, जहाँ एक भारत में एक ही भारत होगा और जिसकी बुनियाद समानता और न्यायप्रियता पर टिकी होगी।